# विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए



**सम्पादक**

**महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ**

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

**Email :** mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

**Web :** www.mvspujjain.com


## इस अंक में


**पृष्ठ क्र. 1-2**

**अभिलेखों से प्रकट होता इतिहास**
अभिषेक शुक्ला

**पृष्ठ क्र. 3-4**

**नाट्यशास्त्र में सौंदर्य का स्वरूप**
विजय कुमार

**पृष्ठ क्र. 5-6**

**वास्तुकला का रचना-विधान, सिद्धांत एवं नियम**
यतीन्द्र तिवारी

**पृष्ठ क्र. 7**

**कालिदास की कृतियों में भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन**
ईशान अवस्थी

**पृष्ठ क्र. 8**

**विक्रमकालीन वैज्ञानिक उपलब्धियाँ**
प्रवेश दीक्षित


# अभिलेखों से प्रकट होता इतिहास

अभिषेक शुक्ला

भारत के सांस्कृतिक इतिहास को भली भाँति आलोकित करने वाली आधारभूत सामग्री में साहित्य के अतिरिक्त पुरातत्व का भी अपना विशिष्ट स्थान है। इतिहास निर्माण की दृष्टि से पुरातत्व विषयक सामग्री का सर्वाधिक महत्व है। यह सामग्री अपने आप में एक प्रामाणिक इतिहास है। उसके द्वारा अनेक सन्देहों, विवादों तथा भ्रमों का निराकरण होकर इतिहासकारों को निर्विवाद दृष्टि प्राप्त होती है। इतिहासकार के समक्ष प्रतिपाद्य विषय और उससे सम्बद्ध विभिन्न घटनाओं की सत्यता निरूपित करने के लिए प्रमाण रूप में जो तथ्य वर्तमान रहते हैं, उन्हीं के नाम से कहा गया है। उदाहरण के लिए यदि प्रयाग का स्तम्भलेख पुरातत्व उपलब्ध न हुआ होता तो सम्प्रति दूसरा कोई साधन नहीं था, जिससे सम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजय की जानकारी हो सकती। इसी प्रकार हाथीगुम्फा का अभिलेख ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा खारवेल नरेश का अस्तित्व सुरक्षित रह सका और यह ज्ञात हो सका कि उसने एक विशाल राज्य की स्थापना की थी। अनेकानेक भ्रान्त तथा सन्दिग्ध घटनाओं के निश्चयीकरण तथा पुष्टीकरण के लिये भी पुरातत्व सामग्री का महत्व सुविदित है। उदाहरण के लिए पुष्यमित्र शुंग के समकालीन (लगभग 200 ई.पू.) वैयाकरण पतंजलि के 'महाभाष्य' से विदित होता है कि पुष्यमित्र शुंग ने कोई यज्ञ किया था। एक व्याकरण-ग्रन्थ के इस उल्लेख को इतिहास का असन्दिग्ध साधन मानने में इतिहासकारों का मतभेद रहा है। किन्तु अयोध्या से उपलब्ध अभिलेख में जब स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिला कि पुष्यमित्र शुंग ने दो अश्वमेध यज्ञ किये (द्विरश्वमेधयाजिनः सेपनातेः पुष्यमित्रस्य), तब पतंजलि के उल्लेख की सत्यता सिद्ध हुई। इसी प्रकार कतिपय अन्य उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इतिहास लेखन तथा अध्ययन के लिए उपयोगी यह पुरातत्व सामग्री अनेक रूपों में बिखरी हुई मिली हैं। उन्हें तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। अभिलेख, स्मारक और मुद्राएँ।

अभिलेख और उनके विभिन्न रूप भारत के विभिन्न स्थानों में विभिन्न युगों में समय-समय पर इतने अधिक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं और आज भी निरन्तर उपलब्ध हो रहे हैं। देश के प्रायः सभी संग्रहालयों में न्यूनाधिक रूप में उनके संग्रह देखने को मिलते हैं। अभिलेखों का इतिहास की दृष्टि से जितना अधिक महत्व है, उतना ही महत्व उनके प्रचलन और उनकी परम्परा का भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्र संहिताओं के वीर-वृत्तों (गाथाओं) और नाराशंसियों (स्तुतिपरक ख्यातों) ने ही संभवतः परवर्ती युग में अभिलेखों के उत्कीर्णन की परम्परा को जन्म दिया। वैदिक युग में बहुधा यज्ञ के अवसरों तथा धार्मिक उत्सवों के समय ऋषियों तथा राजाओं की वीर-वृत्तावलियाँ ओजस्वी वाणी में गतिबद्ध ढंग पर उच्चरित होती थीं। उनमें वीरता, दानशीलता तथा कीर्तिमत्ता आदि गुणों का वर्णन होता था। जहाँ तक उपलब्ध अभिलेखों का सम्बन्ध है, उनमें प्रायः यशोगान, दानशीलता, वीरता, विजय आदि महनीय घटनाओं को उत्कीर्ण किया जाता था। जिस शासक ने जो विशिष्ट ख्यातियुक्त प्रशंसनीय कार्य किये, स्मारक, भवन, कला केन्द्र तथा धार्मिक मठ, मन्दिर, विहार आदि बनवाये, बड़े-बड़े दान दिये, उन सब को अभिलेखों में खुदवाया जाता था। राजाज्ञाओं को उत्कीर्ण कराया जाता था। अभिलेखों के ऐतिहासिक साक्ष्य के लिए उन पर तिथियाँ भी अंकित की जाती थीं। भारत में अभिलेख कब से खुदवाये गये, इस सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सम्राट् अशोक के समय (272-232 ई.पू.) से अभिलेख खुदवाये जाने आरम्भ हुए। किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि सम्राट् अशोक से पूर्व ही अभिलेख उत्कीर्णित किये जाने लगे थे। उदाहरण स्वरूप बस्ती से प्राप्त शिप्रा, कलश,

अभिलेख और अजमेर से प्राप्त 'बडली अभिलेख' का नाम लिया जाता है। इन दो अपवादों के बावजूद सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि सम्राट् अशोक के स्तम्भ से ही अभिलेख खुदवाने की व्यापक परम्परा स्थापित हुई। भारत के विभिन्न अंचलों में समय–समय पर ये अभिलेख अनेक रूपों मे प्राप्त हुए हैं। उनकी आधारभूत सामग्री के अनुरूप उनको अनेक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। यथा शिलाखण्डों, स्तम्भों,

प्रतिमाओं, स्तूपों, गुफाओं, ताम्रपत्रों, मुद्राओं, मुहरों, वेदिकाओं, प्राकारों और आयागपट्टों आदि के रूपों में वे उपलब्ध हुये हैं। उनका उत्कीर्णन संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं में हुआ है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी वे उपलब्ध हैं।

प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की निर्माणक सामग्री शिलालेखों के अतिरिक्त स्तम्भ लेखों के रूप में भी प्राप्त हुई हैं। विभिन्न प्रयोजनों से स्तम्भ निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। प्रागैतिहासिक सभ्यता के परिचायक हड़प्पा तथा मोहन जोदड़ों आदि नगरों की खुदाइयों से प्राप्त सामग्री में इस प्रकार के स्तम्भों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ये स्तम्भ संभवतः धार्मिक प्रयोजनों से निर्मित किये जाते थे। बाद में उन पर लेख भी खुदवाये जाने लगे। संभवतः पत्थरों और पहाड़ों के अभाव में स्तम्भ निर्मित किये गये और उनके द्वारा जनता तक सुगमतापूर्वक राजाज्ञा को पहुँचाया गया। स्तम्भ लेखों के खुदवाने का प्रचलन भी अशोक के ही समय में हुआ। उसने लगभग सात स्तम्भ लेख उत्कीर्णित कराये, जिनमें रूपनाथ (मध्यप्रदेश), सारनाथ (उत्तर प्रदेश), लौटिया (चम्पारन, बिहार), दिल्ली, साँची और कौशाम्बी के स्तम्भ लेख मुख्य हैं। इन पर अशोक ने अपने धर्मलेख खुदवाये। सम्राट् अशोक के स्तम्भ लेख एक ओर तो लोकहितकारी बौद्ध धर्म की महानताओं को अभिव्यक्त करते हैं और दूसरी ओर उसके ऐतिहासिक पक्ष पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार यूनानी राजदूत हेलियोदारस (200 ई.पू.) ने भिलसा (मध्यप्रदेश) में अपना एक स्तम्भ लेख खुदवाया। मौर्यों के बाद गुप्त शासकों के स्तम्भ लेख विशेष महत्व के हैं। उनमें समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ लेख, कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त और भानुगुप्त के स्तम्भ लेखों में उनकी विजय और वंशकीर्ति का मार्मिक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार यशोवर्मन के मन्दसौर स्तम्भलेख में उसकी विजय और यशोगाथा का हृदयग्राही वर्णन किया गया है। ये स्तम्भ लेख वस्तुतः एक प्रकार के कीर्ति स्तम्भ थे। जैसे–जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ी, उनके निर्माण–प्रयोजनों में भी परिवर्तन होता गया। आरम्भ में उन्हें धार्मिक भावना के प्रचार का माध्यम बनाया गया। किन्तु बाद में विजय, यश, कीर्ति, स्मृति और वंश–वृत्त आदि को सुरक्षित रखने के लिए उनका निर्माण किया गया है। आधुनिक युग पर भी उनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय महत्व के भवनों, द्वारों और हुतात्माओं की स्मृति में इस प्रकार के स्तम्भ लेख आज भी खुदवाये जाते हैं। ये स्तम्भ लेख पत्थर के अतिरिक्त धातु पर भी उत्कीर्णित हुए। यद्यपि बहुसंख्यक अभिलेख प्रस्तर–स्तम्भों पर ही उत्कीर्णित हैं किन्तु धातुनिर्मित चन्द्रगुप्त द्वितीय का मेहरौली स्तम्भ अपनी परम्परा का उल्लेखनीय उदाहरण है।

धर्मप्राण भारत में मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण की परम्परा जितनी व्यापक रही है उतनी ही प्राचीन भी है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी धर्मावलम्बियों ने मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण कर अपनी धार्मिक भावना का परिचय दिया। प्रतिमादृविज्ञान सम्बन्धी प्राचीन प्राविधिक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर मूर्तियों के निर्माण की परम्परा जितनी प्राचीन है, उन पर लेख खुदवाने का प्रचलन उतना पुराना नहीं है। फिर भी पूर्व में मौर्य युग से ही मूर्तियों पर लेख उत्कीर्णित किये जाने लगे थे। उदाहरण के लिए पटना और परखम की यक्ष प्रतिमाओं को उद्धृत किया जा सकता है। ईसा की प्रथम शती के लगभग निर्मित बोधगया तथा मथुरा की लेखयुक्त बौद्ध मूर्तियों का नाम इस परम्परा में उल्लेखनीय है, जिनमें अधिकतर कुषाण राजाओं के लेख हैं। मथुरा के क्षत्रपों के समय भी लेखयुक्त मूर्तियों का निर्माण हुआ। गुप्त राजाओं के समय मनकुमार की बौद्ध प्रतिमा और करमदण्डा के शिवलिंग उद्धृत किया जा सकता है। हूण राजा तोरमाण द्वारा निर्मित एरण (मध्य प्रदेश) की बाराह भगवान की विशालकाय मूर्ति पर भी प्रशस्ति अंकित है। इसी प्रकार जैन मूर्तियों और आयागपट्टों पर भी बहुसंख्यक लेख खुदे हुए मिलते हैं। ये लेख मूर्ति के शीर्ष भाग या निम्न भाग की पट्टिका पर उत्कीर्णित हैं। इन लेखयुक्त प्रतिमाओं से मूर्तिकला के इतिहास पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

# नाट्यशास्त्र में सौंदर्य का स्वरूप

विजय कुमार

भरतमुनि ने रस विषयक सामग्री तो बहुत विशद रूप में प्रस्तुत की थी। किंतु जब रस की उत्पत्ति का प्रसंग आता है तो मात्र एक सूत्र प्रस्तुत करते हैं। इस सूत्र से इतना ही मालूम होता है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सहयोग से रस की 'निष्पत्ति' होती है। पर भरतमुनि का आशय स्पष्ट नहीं होता क्योंकि संयोग का अर्थ परस्पर संयुक्त होना भी हो सकता है और किसी अन्य अवयव से संयुक्त होना भी। स्वयं भरतमुनि ने उक्त सूत्र पर कोई वृत्ति न देकर एक दृष्टांत मात्र दिया है। वह कहते हैं कि जैसे नाना व्यंजनों के साथ औषधि आदि के संयोग से खाद्य पदार्थों में रस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार भावों के समीप आने से रस की निष्पत्ति होती है। किंतु बात कुछ बनती नहीं है, क्योंकि यदि यह मान लें कि काथिक विभावादि के एकत्र होने से रस निष्पन्न हो जाता है, तो फिर आठ रसों के साथ भरतमुनि ने जिन आठ स्थायी भावों की गणना की थी, उनका रसोत्पत्ति अथवा, रसास्वाद में क्या उपयोग है? भरतमुनि ने स्वयं ही श्रृंगार आदि रसों का पृथक–पृथक विवेचन करते समय एक रस को एक स्थायी भाव से सम्बद्ध किया है। वह कहते हैं कि 'श्रृंगार उस रस का नाम है जो रति नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है।' इसी प्रकार के कथन अन्य रसों के प्रसंग में भी मिलते हैं। जिनसे प्रतीत होता है कि स्थायी भाव ही रसोत्पत्ति में हेतु हैं। हमें एक ही नहीं ऐसे अनेक कथन मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि भरतमुनि के अनुसार विभावादि के संयोग से स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। वह कहते हैं कि नाना भावों से संयुक्त स्थायी भाव ही रसत्व प्राप्त करते हैं।

मिश्रित व्यंजन सामग्री की भाँति नाना भावाभिनयों से व्यंजित तथा वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनय से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन कर जो प्रेक्षक हर्ष आदि का अनुभव करते हैं, उन्हीं को सुमनस कहा गया है और उन स्थायीभावों को रसत्व प्राप्त करायेंगे। इन सब कथनों से तो नहीं प्रतीत होता है कि वाचिक, आंगिक आदि अभिनय के द्वारा व्यभिचारी, स्थायी आदि नाना भावों की व्यंजना होने पर स्थायी भाव आस्वादन बन जाता है। किंतु यह विचार भी उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भावाध्याय नामक सातवें अध्याय में भरतमुनि कहते हैं कि इन्हीं उन्चास भावों को काव्य रस की अभिव्यक्ति के हेतु समझना चाहिए। इन्हीं से सामान्य गुण का योग होने पर रसों की निष्पत्ति होती है। अब यहाँ फिर तीन बातें पैदा होती हैं। एक यह कि रस की निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है। दूसरी यह कि स्थायी भाव ही नहीं, प्रत्युत् सभी उन्चास भाव रस हेतु हैं और तीसरी यह कि भावों का अनुभव ही रसानुभूति के लिए पर्याप्त नहीं है। इनके साथ सामान्य गुण का भी योग होना चाहिए। पर, केवल भरतमुनि के अध्ययन से इन समस्याओं का हल प्राप्त कर लेना संभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वह शब्दों के प्रयोग में सतर्क नहीं दिखाई देते। हो सकता है, उनके समय तक शब्दों के प्रयोग में एकरूपता आ ही न सकी हो। फिर, वह क्रमबद्ध विवेचन नहीं करते और बहुत से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर देते हैं, किंतु उन पर कोई वृत्ति नहीं देते। जैसे प्रस्तुत संदर्भ में ही उन्होंने 'सामान्य गुण योग' की कोई व्याख्या नहीं दी।

इसी प्रकार निष्पत्ति शब्द का अर्थ भी निश्चित नहीं हो पा रहा है, क्योंकि जहाँ उन्होंने उन्चास भावों को काव्य रस की अभिव्यक्ति के हेतु कहा है, वहीं उनके द्वारा उद्धृत एक अति प्रसिद्ध श्लोक की पहली पंक्ति में 'रसोद्भव' शब्द का प्रयोग हुआ है। रस के कारणभूत भाव के संदर्भ में उन्होंने एकाधिक कथनों में स्थायी भाव के रसत्व प्राप्त करने की बात की थीं, किंतु अब कह रहें हैं कि सभी उन्चास भाव के हेतु हैं। इस पर उन्होंने स्वयं प्रश्न किया है कि यदि काव्यार्थ के आश्रित विभाव और अनुभाव के द्वारा व्यक्ति उन्चासों भाव सामान्य गुण से युक्त होने पर रसों को निष्ट करते हैं, तो फिर यह क्यों कहा गया कि स्थायी भाव ही रसत्व प्राप्त करते हैं? और उत्तर देते हैं कि बहुतों के लिए आश्रय भूत होने से स्थायी भाव स्वामी के समान

होता है। व्यभिचारी भाव कुटुम्बियों के समान होते हैं। जैसे किसी राज परिवार में बहुत से लोगों के होते हुये भी राजा को ही कहा जाता है। कोई दूसरा पुरुष राजा नहीं कहलाता, वह कितना महान् क्यों न हो। उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से घिरा हुआ स्थायी भाव ही रस की संज्ञा प्राप्त करता है। इससे यह आशय निकलता है कि स्थायी भावों को रस कहना मात्र एक औपचारिकता है। अतः इन सब विवादों के निराकरण के लिए, हमें अब अभिनवगुप्त के भाष्य का आश्रय लेना पड़ेगा। उनके समय तक नाट्यशास्त्र की सांप्रदायिक व्याख्या गुरु–शिष्य परंपरा द्वारा सुरक्षित थी। उन्होंने इसे कहा भी है। इसीलिए अभिनवगुप्त विवादास्पद विषयों पर अपने गुरु भट्ट तौत का मत प्रस्तुत करते हैं। वही उनका अपना मत अथवा सिद्धांत पक्ष होता है। किंतु इससे पूर्व वह प्राचीन शास्त्रिय पद्धति का अनुसरण करते हुए, अन्य व्याख्याकारों के मतों को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर, मूल ग्रंथ के अनुकूल युक्तियों के द्वारा उनका खंडन प्रस्तुत कर देते हैं। यही पद्धति उन्होंने भरतमुनि के रस सूत्र का अर्थ निश्चित करने के लिए अपनायी है। वह सबसे पहले भट्टलोल्लट का मत प्रस्तुत करते हैं।

इनके अनुसार, भरत के रस सूत्र में विभावादि के जिस संयोग का कथन किया गया था, वह स्थायी भाव के साथ होता है। तभी रस निष्पत्ति होती है। किंतु वह विभावादि में से विभाव को ही स्थायीभाव की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। वह कहते है कि अनुभाव यहाँ रस के जनक रूप में विवक्षित नहीं है। उनका आशय यह है कि अनुभाव तो रस की स्थिति के पश्चात् ही प्रकट होते हैं। अतः रस जनन में उनकी कारणता अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार, व्यभिचारी भाव चित्तवृत्यात्मक होने से स्थायी भाव के साथ ही उपस्थित नहीं हो सकते, क्योंकि स्थायी भाव भी चित्तवृत्यात्मक ही होते हैं और दो चित्तवृत्तियाँ एक साथ स्थित नहीं हो सकतीं। अतः, स्थायी भावों के उद्भूत हो जाने पर ही, उन स्थायी भावों के व्यभिचारी भाव आते–जाते रह सकते हैं।

भट्टलोल्लट की उपर्युक्त व्याख्या से प्रकट होता है कि उनके ध्यान में सामाजिक पक्ष बिल्कुल नहीं था। अपने इस विवेचन में वह यह स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि मूल चरित्र में स्थायी भाव कैसे उद्बुद्ध होता है और उस स्थायी भाव से अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों को सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब रस और स्थायी भाव में कोई भेद नहीं है, तो दो भिन्न नामों का प्रयोग क्यों किया जाता है? भट्टलोल्लट इसका उत्तर देते हैं कि यह भेद उपचित (परिपुष्ट) और अनुपचित (अपरिपुष्ट) अवस्थाओं को सूचित करने के लिए किया जाता है।

यह रस भट्टलोल्लट की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार राम, दुष्यंत आदि वास्तविक नायकों में होता है, किंतु सह.... में भी इसकी स्थिति मानते हैं। वह कहते हैं कि वह (रस) दोनों में होता है। मुख्य रूप में रामादि अनुकार्यों में ही होता है, किंतु रामादि रूपता के अनुसंधान के बल से वह अनुकर्ता नट में भी उत्पन्न हो जाता है। यहाँ नट द्वारा राम रूपता के अनुसंधान का आशय स्पष्ट नहीं है। अभिनवगुप्त ने भी इस संदर्भ में इसे स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया है। किंतु भट्टलोल्लट ने एक अन्य संदर्भ में भी अनुसन्धि (अनुसंधान) का प्रयोग किया है। वह संदर्भ यह है कि उद्भट ने नट में रस की स्थिति मानने के विरूद्ध आपत्ति करने के अभिप्राय से कहा था कि यदि नट में रस, भाव आदि का योग मानें, तो यह मानना पड़ेगा कि नाटक में किसी के मरण आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर नट, तत्सम्बन्धी आवेश के वशीभूत होता है। पर, इस स्थिति में उसके अभिनय में लय आदि का भंग होना चाहिए, जो नहीं होता है। किंतु यदि कभी ऐसा प्रतीत हो कि नट में आवेश है, तो उसे मात्र भ्रम समझना चाहिए।

भट्टलोल्लट ने इस आपत्ति का निराकरण करने के अभिप्राय से कहा कि यह संभव है कि नट वासना से उद्भुत आवेश के वशीभूत होकर रसों और भावों का अनुभव करे और अनुसन्धि के बल से लय आदि का अनुसरण भी करता रहे। उनके इस कथन से अनुसन्धि का अर्थ शिक्षा और अभ्यास प्रतीत होता है, किंतु निश्चय फिर भी नहीं हो पा रहा है। श्री नोली ने अनुसन्धि अथवा अनुसंधान का अर्थ खोजने के प्रयत्न में प्रभाकर के 'रस प्रदीप' नामक ग्रंथ से एक उद्धरण दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि वासना को प्रस्तुत करने की पटुता के आश्रय से कवि द्वारा विवक्षित अर्थ को साक्षात् जैसा प्रस्तुत करना अनुसंधान है।

रस–प्रदीपकार ने अनुसंधान को इस प्रकार परिभाषित कर शिक्षा और अभ्यास अर्थ स्वीकार करते हुए अभिनय वस्तु को साक्षात्कारात्मक रूप प्रदान करने की क्षमता को भी जोड़ दिया है। श्री नोली ने इसी परिभाषा का अनुसरण करते हुए अनुसन्धि के लिए रियलिजेशन (साक्षात्कार) शब्द का प्रयोग किया है और यह टिप्पणी जोड़ी है कि यह वह शक्ति है। जिसके बल से नट कुछ समय के लिए अभिनीत, अथवा अनुकृत चरित्र (जैसे, राम) बन जाता है। अपने में राम–जैसा अनुभव करता है, किंतु अपने वास्तविक नट स्वभाव को भूलता नहीं है। अभिनवगुप्त ने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में अनुसंधान का अर्थ स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत दिया है, जो श्री नोली की व्याख्या का पोषण करता है। वह दृष्टांत इस प्रकार है कि मैं जो बालक था वही आज युवा हूँ, इस प्रकार की प्रतीति अनुसंधान है। इससे प्रकट होता है कि अनुसंधान में अपने पूर्व रूप की स्मृति को सुरक्षित रखते हुए वर्तमान रूप की प्रतीति सम्मिलित है।

इस प्रकार, यदि हम अनुसंधान के भट्टलोल्लट द्वारा संकेतित, रस–प्रदीपकार द्वारा परिभाषित तथा अभिनवगुप्त द्वारा व्यंजित अर्थों को एकत्र कर लें, तो अभिनय से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हो जाता है कि नट अपनी शिक्षा और अभ्यास द्वारा अर्जित भाव प्रकाशन की पटुता के सहारे अभिनय चरित्रों को साक्षात्कारात्मक रूप में प्रस्तुत कर देता है, किंतु उसे अपने नट स्वरूप का ज्ञान बना रहता है।

# वास्तुकला का रचना-विधान, सिद्धांत एवं नियम

यतीन्द्र तिवारी

आर्यों ने वास्तुविद्या में एक उच्चस्तरीय विकास पा लिया था। उन्होंने नाना–विध आवासीय और सार्वजनिक भवनों का निर्माण कर उस वास्तुशास्त्र की रचना की, जिसने आगे के स्थापत्य को आधारभूमि दी। आर्य वास्तुशास्त्र ने जिन नाना–विध रचनाओं का विकास किया उससे ज्ञात होता है कि उन्होंने वास्तुशास्त्र के निमयों की रचना कर ली थीं। वास्तुशास्त्र के इन नियमों पर निरंतर चिंतन और मनन की प्रक्रिया चलती रहीं। उनका बहुपक्षीय अध्ययन और कार्यरूप प्रतिपादन तथा

उनका खंडन और मंडन भी होता रहा। शतपथ ब्राह्मण में वास्तु आचार्य नग्नजित के वास्तुशास्त्रीय कुछ सिद्धांतों का खंडन भी उपलब्ध है। वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से आदर्श भवनों के निर्माण के विषय में अथर्ववेद के शाला सूक्त महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराते हैं। वैदिक साहित्य के अनेक उल्लेख जो विविध प्रसंगों में प्राप्त होते हैं, वे भी सूत्र रूप में वास्तुशास्त्रीय नियमों की जानकारी देते हैं। गृह निर्माण सम्बन्धी विपुल सैद्धांतिक जानकारी गृह्य सूत्रों में निहित है ही, लेकिन मात्र वास्तुशास्त्रीय ग्रंथ या वास्तुशास्त्रीय तकनीकी साहित्य के रूप में कोई स्वतंत्र रचना या ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। वैसे, वास्तुशास्त्रीय तकनीकी साहित्य के अंतर्गत यदि किसी ग्रंथ को परिगणित किया जा सकता है तो वह हैं– शुल्ब सूत्र। शुल्ब सूत्रों में तीन आपस्तम्ब, कात्यायन और बौधायन के शुल्ब सूत्र उपलब्ध है। इनमें यज्ञ वेदियों को रचना के लिए मापें, अनुपात और ज्यामितीय सिद्धांत दिये गये हैं, जिनके आधार पर आगे चलकर मंदिर स्थापत्य ने विकास पाया वस्तु शुल्ब सूत्र वास्तु के वैज्ञानिक और तकनीकी सिद्धांतों के आदि और अनुषम ग्रंथ है। गृह्य सूत्रों में जीवन के विविध पहलुओं पर निर्देश होने के साथ–साथ आवासीय निर्माण के विषय में विपुल सामग्री है और यह प्रायः सभी गृह्य सूत्रों में है, लेकिन सांख्यायन और आश्वलायन गृह्य सूत्रों में यह जानकारी विस्तृत रूप से प्राप्त है। इन दोनों गृह्य सूत्रों में गृह निर्माण सम्बन्धी नियमों के तीन–तीन अध्याय हैं, जिनसे आवासीय निर्माण के सैद्धांतिक पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, जिनका उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से गृह निर्माण के क्रमिक विकास प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है।

भवन निर्माण के पूर्व भूमि के चयन और भू–परीक्षण के अनेक उल्लेख उपलब्ध है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भवन निर्माण स्थलों का उल्लेख प्राप्त है। प्रकार का भूमि चयन के विषय में आश्वलायन गृह्य सूत्र के निर्देशानुसार ऐसी भूमि का चयन किया जाये जिस पर किसी भूमि स्वामित्व सम्बन्धी विवाद न हो। भू–परीक्षण के अनुसार भूमि क्षारीय नहीं होनी चाहिए अर्थात् उस पर घास आदि हरियाली हो। भूमि पर हरियाली का होना इस बात का सूचक है कि वह क्षारीय नहीं है। समस्त भूमि का रंग एक–सा होना चाहिए अर्थात् समस्त भूमि एक–सी होनी चाहिए। भूमि दलदली, शुष्क और रेतीली नहीं होनी चाहिए। गोभिल गृह्य सूत्र का निर्देश है कि यह भूमि ऐसी निचली सतह पर न हो, जहाँ बाढ़ के समय पानी के भर जाने का भय हो। भूमि चयन के उपरांत भवन निर्माण के लिए भूमि को मापा जाता था, जिसके लिए माप 'घाम–मामे पद मिलता है। अथर्ववेद 9.3.19 में आये निमित मित' पद से भी इसी ओर संकेत मिलता है कि भवनों का निर्माण पूरी नाप–जोख के साथ, मानचित्र बनाकर, योजनाबद्ध ढंग से किया जाता था। माप के संदर्भ में 'प्रमा' शब्द भी मिलता है। माप के पैमाने अंगुल, वितस्त, पद, बाहू, अरनि, व्याम आदि थे। ये छोटी मापें थीं फिर भी इन मापों का उपयोग भूमि की माप के लिए होता था। इनसे बड़ी माप दंड थी, जिससे भूमि या खेत को मापा जाता था। 31 गव्यूति भी एक माप थी। इसी प्रकार क्रोश दूरी की सबसे बड़ी माप थी। भवन निर्माण हेतु भूमि वर्गाकार या आयताकार होनी चाहिए। गोभिल गृह्य सूत्र के अनुसार यह भूमि ईंट के आकार की आयताकार या गोलाकार (द्वीपाकार) होनी चाहिए। मापी हुई भूमि पर सांख्यायन गृह्य सूत्र के अनुसार उदुम्बर की लकड़ी से तीन बार रेखांकन किया जाना चाहिए।

अथर्ववेद 9.3.11 के उल्लेख 'यस्त्वा शाले निमिमाय स जभार वनस्पतीन' से लकड़ी (वनस्पति) से शाला के निर्माण करने का निर्देश मिलता है। वैदिक ऋषियों की कल्पना है कि प्रजापति विश्वकर्मा ने निखिल सृष्टि का निर्माण काष्ठ से किया

है। परमेष्ठि प्रजापति का गृह काष्ठ निर्मित था, जिसे एक आदर्श और अनुकरणीय गृह माना गया और इसी के अनुरूप गृह–निर्माण में काष्ठ को अपनाया गया। काष्ठ या दारु के व्यापक उपयोग साथ बाँस, वर्हण, शर, कुश, कास आदि घास और चावल व गेहूँ के पौधे से प्राप्त फूस–पलाद व मूँज की रस्सी (प्राणाह) आदि का उपयोग आर्यों ने अपने गृह निर्माण में किया। घास–फूस और पत्तों आदि से छतें छायी गयीं। मकान की दीवारें जो अथर्ववेद के शाला सूक्त के अनुसार द्विपक्षा, चतुष्पक्षा, अष्टपक्षा व दशपक्षा होती थीं, वह भी लकड़ी या घास–फूस की बनायी गयीं। षट्पक्षा, गृह निर्माण में मिट्टी का भी उपयोग हुआ। भवन निर्माण में एक निश्चित आकार–प्रकार और माप की, आग में पकायी ईंट (अग्नि इष्टका) का भी उपयोग होता था। विशेष रूप में यज्ञ वेदियों के निर्माण में ईंटों के उपयोग के अनेक उल्लेख प्राप्त हैं।

यज्ञ वेदियों में प्रयुक्त ईंटें भी छह प्रकार की हैं। षोडशी, अर्ध्या, पाट्या, पक्ष्या, पक्ष–मध्या और पक्षाग्र्य। ये भिन्न प्रकार की ईंटें निश्चित आकार–प्रकार और माप की होती थीं, जिनके उपयोग का उल्लेख सोमयाग व पशुयाग जैसे यज्ञों की बड़ी वेदियों (महाग्नि चिति) के निर्माण में पाया गया है। ईंटों की निश्चित गणना उसी स्थिति में ही संभव है जबकि उनका आकार–प्रकार और माप निश्चित हो। इसी स्थिति में यजुर्वेद 17.2 में ईंटों की गणना इकाई से लेकर परार्ध (दस खरब) तक की संख्या में बतायी गयी है। इससे ज्ञात होता है कि ईंटें सैकड़ों की संख्या में ही नहीं, बल्कि हजारों, लाखों की संख्या में बनती थीं। यज्ञ वेदि की माप के अनुसार एक सामान्य ईंट लगभग 12 इंच लम्बी और 4.6 इंच ऊँची होती थी, जबकि आज की ईंट की माप 9 इंच लम्बी और 3 इंच ऊँची होती है। ईंटों की उपस्थिति बताती है कि संभवतः इनका उपयोग भवन निर्माण में भी होता होगा और ईंटों की तरह पत्थरों का भी, क्योंकि पत्थरों के बने पूरों के भी उल्लेख मिलते हैं।

नींव खोदकर स्तम्भ को स्थापित किये जाने के संदर्भ में ऋग्वेद में स्कम्भानि धरुणे पद प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ स्तम्भ को धारण करनेवाली 'धरुण' नींव है। स्तम्भ ही वह मुख्य आधार है जिस पर सारा गृह टिकाया जाता है। अतः स्तम्भ को गाड़ने के लिए नींवें खोदी जाती थीं। नींव खोदना और उसमें स्तम्भ को प्रस्थापित करना भवन निर्माण का प्रारंभिक चरण था। अतः इस प्रारंभिक अवसर पर गृह्य सूत्रों में वास्तोष्पति की उपासना का विधान बतलाया गया है। गृह की सुरक्षा के लिए द्वार (दुर्यः, दुरः) लगाये जाते थे। गृह निर्माण भूमि पर चाहरदीवारी, परिधि, बाड़ बनायी जाती थी जिसे अथर्ववेद ने 'वप्र' कहा है। इस चाहरदीवारी में एक बड़ा और सुदृढ़ मुख्य प्रवेश–द्वार लगाया जाता था। ऋग्वेद में इन द्वार स्तम्भों से सुस्थिरता की उपमा दी गयी है। ये द्वार इतने सुंदर, भव्य और आकर्षक बनाते जाते थे कि इन्हें दिव्य द्वार तक कहा गया है। घर की छतें स्तम्भों पर आधारित होती थी। अतः भवनों का मुख्य आधार होने के कारण स्तम्भ को वैदिक साहित्य और वास्तुशास्त्र में प्रमुख स्थान प्राप्त है तथा उसके नानाविध उल्लेख मिलते हैं। स्तम्भ को लेकर वैदिक प्राधियों की परिकल्पना रही है कि भूलोक एक भवन है जिसका धरातल पृथ्वी है और छत भूलोक और यह मूलीक एक महान् स्तम्भ पर टिका हुआ है जिसे 'स्कभीयान' इंद्र ने टिका (स्तम्भित) रखा है।

स्तम्भ के लिए यूप, स्तम्भ, स्तूप, स्थूण, स्कम्भ तथा विष्कम आदि शब्द मिलते है। भवन में लगाये जानेवाले स्तम्भ के तीन भाग माने गये है भूमि के अंदर नींव में रखा आधार भाग, मध्य का मध्यवर्ती तना भाग और ऊपर का शीर्ष भाग। प्रत्येक कक्ष (कमरे) की छत के लिए एक मुख्य स्तम्भ होता था, लेकिन कमरे के बड़े आकार प्रकार के अनुरूप एक से अधिक स्तम्भ लगाये जाते थे। ऋग्वेद के उल्लेख त्रय स्कम्पास स्कभितासः के अनुसार तीन स्तम्भ लगाने से छत का आधार सुदृढ़ हो जाता था और शंकु के आकार की बनी छत सुंदर लगती थी। प्रतिमिति, उपमिति और परमिति स्तम्भ के साथ दीवाल व छत की निर्माण प्रक्रिया के संदर्भ में कुछ पारिभाषिक शब्द मिलते है जैसे, उपमिति जो संभवतः सहायक स्तम्भों के लिए प्रयुक्त हुआ है। हेनरिच जिगर ने इन्हें कोनों पर गाड़े जाने वाले स्तम्भ माना है जबकि कीथ इसे मात्र स्तम्भ मानते है। प्रतिमिति से किसी ऐसी टेक का अर्थ प्रतीत होता है जो संभवतः उपमितियों का आधार रही है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल इसे मुख्य स्तम्भ पर आलम्बन के रूप में झुकी हुई रखी शहतीर मानते है।

जिमर भी इसे उपमिति से टिकी, एक विशेष कोण पर झुकी शहतीर मानते हैं, जो आलम्बन का कार्य करती थी। परमिति का तात्पर्य मुख्य स्तम्भ पर रखी गयी धरन से रहा है। यह धरन मुख्य स्तम्भ पर क्रॉस की आकृति बनाती थी। एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ को जोड़ने वाली धरने परमिति कहलाती थी। आर्यों ने अपने गृह की छत की कल्पना एक खड़ी हुई हथिनी के आकार से की है। 138 स्तम्भों, उपमिति, प्रतिमिति और परमिति द्वारा निर्मित संरचना (ढाँचे) पर बाँसों का जाल बनाया जाता था। जाल बनाने में बाँस को समानांतर कतारों में लगाया जाता था।

इन बाँसों का एक सिरा मूँज घास की रस्सी (प्राणाह) से बाँधा जाता था और इसके बाद बाँसों को उसके समकोण पर क्रॉस के आकार में लगाया जाता था तथा 'नहन' नामक रस्सी (वंशानहाम् नहनानीम) से कसकर बाँध दिया जाता था। छत के इस जाल के भी बनाने की तीन विधियाँ थीं। पहली विधि में बाँसों का समानांतर जाल बाँधकर उनके ऊपर चिरे हुए बाँस की खपच्चियों को क्रॉस के आकार में बाँध दिया जाता था। इसे 'आयाम' कहा जाता था। जाल वर्गाकार या आयताकार होता था। दूसरी विधि में इस ढाँचे को घास–फूस की कई तहों से ढक दिया जाता था जिसे अथर्व के शाला सूक्त 9.3.3 में 'वर्हण' कहा गया है। इस घास–फूस की तहों के ऊपर चिरे हुए बाँसों को क्रॉस के आकार में लगाकर इन चिरे बाँसों को नीचे के बाँसों के साथ बाँध दिया जाता था। इस प्रकार के बाँधने में जो गाँठ लगायी जाती थी उसे 'ग्रंथि' कहा जाता था।

# कालिदास की कृतियों में भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन

ईशान अवस्थी

किसी कवि, लेखक या रचनाकार की श्रेष्ठता एवं विशेषता इसी बात में आँकी जाती है कि उसका व्यक्तित्व या निजत्व उसकी कृति में इस प्रकार एकाकार हो जाये कि लोग उसके कृतित्व के आधार पर ही उसको प्राप्त कर लें। वाल्मीकि और व्यास ऐसे ही महान् कृतिकार थे। उत्कृष्ट कृतित्व की विशेषता इसमें है कि उसका प्रभाव सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होता है और उससे विश्व के सभी कृतिकारों को समान रूप से प्रेरणा तथा चेतना प्राप्त होती है। कालिदास इसी प्रकार के कृतिकार थे। देश–विदेश में समान रूप से उनका प्रभाव और आदर–सम्मान है। उनकी कविता और विशेष रूप से नाट्यकला के सम्बन्ध में जर्मन महाकवि गेटे के भावों को अभिव्यक्त करते हुए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है– ''स्वर्ग और मर्त्य का जो मिलन है, उसे कालिदास ने सहज की सम्पादित कर दिया है। उन्होंने फूल को इस सहज भाव से फल में परिणत कर दिया है, मर्त्य की सीमाओं को इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच का अन्तर किसी को मालूम ही नहीं हो पाता।''

कालिदास को अतीत भारत के गौरव का प्रतीक मानकर आज राष्ट्रीय सम्मान दिया जाने लगा है। उनकी स्मृति में प्रति वर्ष देश के विभिन्न अंचलों के सभी भाषा–भाषियों द्वारा जयन्तियाँ मनायी जाती हैं, उत्सव और मेले आयोजित होते हैं। कालिदास के स्थितिकाल–सम्बन्धी जो भ्रान्तियाँ थीं उनका भी बहुत कुछ निराकरण हो चुका है और अधिकतर विद्वान इतिहासकार अब इस मन्तव्य को स्वीकार करने लगे हैं कि मालव गणतन्त्र के मुखिया, शकारि का वीरुद धारण करने वाले एवं विक्रम सम्वत् के प्रवर्तक महाराज विक्रमादित्य के आश्रय में उन्होंने कुछ समय व्यतीत किया था। इन शकारि विक्रमादित्य का शासनकाल ई.पू. प्रथम शती था। अतः कालिदास भी निर्विवाद रूप से इसी समय हुए। ऐसा प्रतीत होता है उस समय मालवा पर विक्रमादित्य का शासन था। कालिदास का सम्बन्ध दक्षिण के शुंग–सातवाहनों से भी रहा। जिस 'मालविकाग्निमित्र' नाटक इस तथ्य का पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण है। कालिदास द्वारा विचरित जिन कृतियों को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। उनकी संख्या सात है। उनमें 'मेघदूत' तथा 'ऋतुसंहार' खण्डकाव्य, कुमारसंभव तथा 'रघुवंश' महाकाव्य और 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक कृतियाँ हैं। कालिदास की इन कृतियों में साहित्य की जिन नवीन रूप विधाओं का सृजन हुआ उनकी सुरभि से भारत का साहित्याकाश सुरभित है। उनके द्वारा अतीतकालीन भारत के युग–युगों की संस्कृति नैसर्गिक रूप में अवतरित हुई। जिस प्रकार शेक्सपियर ने अपने नाटकों में तत्कालीन भौतिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों को समायोजित किया है, उसी प्रकार कालिदास ने अपनी कृतियों में तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक चेतनाओं को अत्यन्त विशद रूप में बड़ी सजीवता के साथ सन्दर्शित किया है। कालिदास इस रूप में भारत के सर्वोच्च महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी कृतियों में इस राष्ट्र की चिरन्तन सांस्कृतिक परम्पराओं को अत्यन्त सजीवता एवं मार्मिकता से गुम्फित किया गया है। रघुवंश के आरंभ में ही उन्होंने लिखा है कि रघुवंशीयों में जो असामान्य गुण विद्यमान थे उन्हीं की प्रेरणा से मुझे इस महाकाव्य के प्रणयन की इच्छा हुई।

भारतीय संस्कृति के उस रघुवंशीयों के चरित्रों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है–'वे रघुवशीय शास्त्रानुमोदित नियमों के अनुसार यज्ञ करते थे। याचकों को उनका मनोवांछित फल देते थे। अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देते थे। समयोचित कार्य करते थे। दान के ही उद्देश्य से धन का संचय करते थे। सत्य की रक्षा के लिए कम बोलते थे। वे लूटमार, उत्पीड़न के लिए नहीं, अपितु अपने यश–विस्तार के लिए ही दूसरे देश पर विजय प्राप्त करते थे। वे भोग–विलास के लिए नहीं, अपितु सन्तति–जनन के लिए विवाह करते थे। वे बाल्यावस्था में अध्ययन करते थे, युवावस्था में सांसारिक भोगों का आनन्द लेते थे, वृद्धावस्था में मुनिजनों के समान अरण्यों में तप करते थे और अन्त में योग द्वारा परमेश्वर का ध्यान–चिन्तन करते त्याग करते थे।' रघुवंश के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रघुकुल के सभी राजाओं ने इस परम्परा का पूरी तरह से पालन किया। यही भारतीय संस्कृति का मूल है और इसी का दिग्दर्शन कालिदास की कृतियों में हुआ है। किसी कवि या रचनाकार की और विशेष रूप से ऐसे निष्णात साहित्य–सृष्टा की कृतियों के अध्ययन से यह अवगत करना या ग्रहण करना करना नितान्त कठिन कार्य है कि उसने जिन परिस्थितियों, जिस वातावरण या देश–काल की जिन दशाओं का वर्णन किया है, उसमें कितना अंश उसका स्वानुभूत है और कितना कल्पित या आनुमानित। इस दृष्टि से किसी रचनाकार की कृतियों से वास्तविकता को छाँटकर निकालना प्रायः दुष्कर होता है। यद्यपि विभिन्न साधनों एवं सोतों द्वारा उज्जीवित पूर्ववर्ती परम्पराओं को अपनी कल्पना–सृष्टि द्वारा स्वानुरूप बनाने में सभी कृतिकारों का प्रयत्न रहा है। तथापि प्रत्येक श्रेष्ठतम् कृतित्व तभी चिरस्थायी एवं लोक सम्पूजित होता है, जबकि उसमें उसके रचनाकार की अनुभूतियाँ भी अनुस्यूत हो। इस दृष्टि से यदि कालिदास की कृतियों तथा कालिदासयुगीन भारत की सम–सामयिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाये तो बहुत से तथ्यों तथा वास्तविकताओं को खोज निकालना असम्भव नहीं है। कालिदास की कृतियों से तत्कालीन जन–जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

**पुस्तक चर्चा**/प्रवेश दीक्षित

# विक्रमकालीन वैज्ञानिक उपलब्धियाँ

सम्राट विक्रमादित्य भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण धुरी हैं, और संभवतः निर्णायक धुरी भी। विक्रमादित्य के पहले भारतवर्ष के विषय में पश्चिमी तथा पश्चिम अभिमुख इतिहासकारों ने एक अच्छी खासी परदेदारी कर रखी थी। ज्यादा अरसा नहीं हुआ जब ब्रिटेन और यूरोप में बैठे भद्र समाज को भारत अँधेरे का एक क्षेत्र भर नजर आता था। यह भी कि विक्रमादित्य नाम का कोई व्यक्तित्व उज्जयिनी में हुआ ही नहीं... न हुआ और न ही उसने शक जैसे विदेशी आक्रांताओं को देश–बाहर किया और भारतीय समाज को अपनी न्याय प्रियता, प्रजावात्सल्य से समृद्ध किया, न ही साहित्य, संस्कृति और विज्ञान की उत्प्रेरणा दी, न ही वे भारतीय इतिहास में रामराज्य बाद सुशासन के ही पर्याय बने। ऐसे भद्र समाज के लिए साहित्य के, वांग्मय के, स्थापत्य के लोक के, लोक आख्यानों के साक्ष्य कोई मायने नहीं रखते थे। उन्होंने हमारी ज्ञान–विज्ञान की सुदीर्घ परंपरा को ही खारिज कर रखा था। कुछ–कुछ विवशतावश स्वीकार भी किया तो भी कालिदास, वराहमिहिर, बेताल भट्ट, घटखर्पर, धन्वन्तरि, वररूचि, व्याडि, क्षपणक के अन्वेषण, सर्जनात्मक उपलब्धियों और उनके कालखण्ड को लेकर बहुतेरे भ्रम भी खड़े कर दिये गये जिनसे हम आज भी रूबरू हैं। भारतीय इतिहास की धुँधली और टिमटिमाती इमारतों को रोशन करने के छोटे–छोटे प्रयासों के अनुक्रम में महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ के लिये डॉ. मुकेश शाह ने वराहमिहिर के विशेष संदर्भ में विक्रमकालीन वैज्ञानिक उपलब्धियों पर शोध कार्य किया है। उनके इसी शोध को महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ स्वराज संस्थान संचालनालय संस्कृत विभाग मध्यप्रदेश शासन ने पुस्तक 'विक्रम कालीन वैज्ञानिक उपलब्धियाँ वराहमिहिर के विशेष संदर्भ में' शीर्षक से प्रकाशित किया है।

इतिहास के प्राध्यापक डॉ. मुकेश कुमार शाह ने मालवा के उज्जयिनी और उसके गौरवशाली इतिहास के प्रमुख नायक विक्रमादित्य और उनके काल की वैज्ञानिक प्रगति का उल्लेख किया है। बकौल डॉ. मुकेश कुमार शाह विक्रमयुगीन मालवा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र था तथा मालवा का इतिहास ही भारत का इतिहास हो गया था। पूर्व इतिहास के आलोक में जब हम मालवा को देखते हैं, सो विक्रमादित्ययुगीन विज्ञान की प्रगति अभिभूत कर देती है, यह युग साहित्य, तकनीकी विधा, धातुकर्म, रसायन व ज्योतिष का स्वर्णयुग था। वस्तुतः इतिहास को अनेक युगों एवं राजाओं के युग के नाम के आधार पर विभाजित किया है। मध्यप्रदेश का यह गौरव है कि अब आंचलिक इतिहास में विक्रमादित्य युग के नाम से इतिहास संकलित किया जा रहा है। निश्चित रूप से

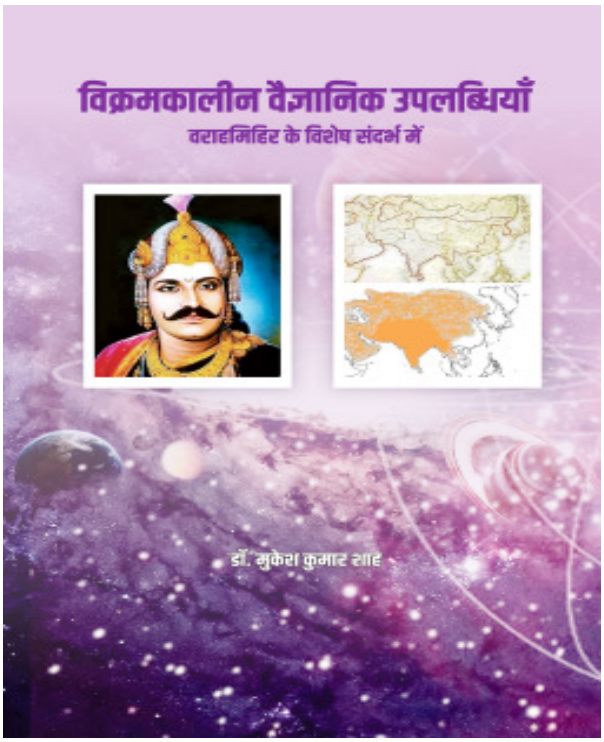


जैसे–जैसे प्रमाण हमें प्राप्त हो रहे हैं उससे आशा बनी है कि इतिहास के पुनर्संकलन में विक्रमादित्य का युग इतिहास के विशिष्ट पन्नों में और भी अधिक स्थान पायेगा। मानव सभ्यता का इतिहास उस समय से ही प्रारम्भ हो जाता हैं, जब वह पृथ्वी पर प्रथम बार प्रकट हुआ। इसी के साथ मानव के तकनीकी विकास का युग भी प्रारम्भ हो जाता है। मानव सभ्यता तथा तकनीकी विकास मानव उद्भव से ही आरंभ हो जाता है। विक्रमादित्य पूर्व के मालवा का विविध वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास, विक्रम कालीन मालवा की भौगोलिक स्थिति, सम्राट विक्रमादित्य के नवरत्नों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि, वराहमिहिर का वाड्मयीन अवदान, वृहत्संहिता में वर्णित वैज्ञानिक तथ्यों का समग्र विवेचन, पंचसिद्धांतिका में वर्णित विभिन्न सिद्धांतों का तुलनात्मक विवेचन तथा भारतीय विज्ञान एवं तकनीक के विकास में विक्रमकालीन मालवा का योगदान जैसे सात अध्याय वाली यह पुस्तक तात्कालिक वैज्ञानिक व सामाजिक परिवेश पर प्रकाश डालती है। डॉ. मुकेश कुमार शाह की यह पुस्तक भारतीय प्राचीन ज्ञान– विज्ञान परंपरा व प्राच्यविद्या को वर्तमान पीढ़ी से अवगत कराने के लिए एक महत्वपूर्ण दस्तावेज की तरह हमारे सम्मुख है निश्चित रूप से इस तरह के प्रयासों का स्वागत होना चाहिए।

**महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.**

**आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407** Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com